

अंग्रेजी राज में भू-स्वामित्व और वर्तमान भूमि समस्या



डॉ० प्रियंका कुमारी

एम.ए., पीएच.डी.

इतिहास, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय,
मुजफ्फरपुर।

भूमि के स्वामित्व के विषय में प्राचीन शास्त्रकारों के मत को लेकर आधुनिक विचारकों में मतभेद हैं। कुछ विचारकों का यह कहना था कि भूमि पर राजा का स्वत्व है और कुछ का यह मत था कि उसपर व्यक्ति का स्वत्व है। कतिपय ऐसे भी दृष्टांत प्रस्तुत किये गये हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि भूमि पर यदा-कदा सम्मिलित स्वामित्व का विकास हुआ। उस समय आर्य भारत में आकर अपना विस्तार कर रहे थे तथा विभिन्न प्रकारों से भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार के अतिरिक्त समूहों में बंटे रहने के कारण भूमि पर उनका समूहगत अधिकार भी था। वस्तुतः भूमि-स्वामित्व के विकास में सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों का योग रहा है तथा इस विषय की विवेचना भी दोनों आधार से करना अपेक्षित है। सैद्धांतिक पक्ष के अनुसार भूमि पर राजा का स्वामित्व दृष्टिगत होता है। राजतंत्र के उत्कर्ष के कारण साम्राज्य का विस्तार हुआ और उसके साथ-साथ विजित भूभाग पर उसका अधिकार स्थापित हुआ। समय-समय पर उसने भूमि, गाँव आदि ब्राह्मणों, श्रमणों मंदिरों और बिहारों को प्रदान किये, जो उसके भूमि स्वामित्व को व्यक्त करते हैं, यद्यपि इसके विपरीत व्यक्तिगत रूप से भी भूमि दान में प्रदान की गई है, जो व्यक्ति के स्वत्व को अभिव्यक्त करती है। व्यावहारिक पक्ष के अनुसार भी भूमि अलग-अलग व्यक्तियों के अधिकार में थी, जिसका वे स्वच्छन्दता पूर्वक आदान-प्रदान और क्रय-विक्रय कर सकते थे। वे अपने भूमि-क्षेत्र का अपने मनोनुसार उपयोग कर सकते थे तथा उसपर अपने गृहों का निर्माण भी कर सकते थे। अतः भूमि स्वामित्व सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों तत्वों से प्रभावित होता रहा है तथा तदनुरूप ही उसका विकास भी होता रहा है। किंतु समग्र रूप से साम्राज्य की सभी वस्तुएँ

राजा के अधीन रहती थीं। इस प्रकार भूमि भी उसके नियंत्रण में रहती थी और कृषक उसका व्यक्तिगत रूप से उपयोग करता था।

सैद्धांतिक आधार पर प्राचीन काल से पूर्व मध्य काल तक भूमि पर राज्य के स्वामित्व को ही स्वीकार करने वाले शास्त्रकार रहे हैं। किंतु इसके विपरीत मीमांसा जैसे विचारक भी रहे हैं जिन्होंने भूमि पर कृषक के स्वामित्व को स्वीकार किया है। साम्राज्य की सभी वस्तुओं पर राजा का प्रधानतः स्वामित्व माना जाता था तथा समय और परिस्थितियों के अनुरूप उसे अपना 'भाग' प्राप्त होता था, साथ ही भूमि पर साधारणतः कृषक अपना अधिकार समझता था और अपने अनुसार भूमि को व्यवहृत करता था। इस प्रकार भूमि पर एक साथ दोनों प्रकार के स्वत्व दर्शित होते हैं।¹

व्यक्तिगत भूमि स्वामित्व:

भूमि पर व्यक्ति का अधिकार वैदिक युग से स्वीकार किया गया है। उस युग में कृषि योग्य भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व के संदर्भ मिलते हैं। भूमि की माप उस समय की जाती थी, जिसे 'खिल्य' के माध्यम से विलग किया जाता था।

ऋग्वेद में अपाला का अपने पिता की भूमि के संबंध में जो संदर्भ है, वह व्यक्तिगत भूमि-स्वामित्व को स्पष्ट करता है। उत्तर वैदिक युग में वेद, संहिता और उपनिषद् ग्रंथों में व्यक्तिगत भूमि के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं।² जैमिनि ने मीमांसा के आधार पर मत व्यक्त किया है कि "यह सही है कि भूमि खंड दान करके किसी व्यक्ति को दिया जा सकता है, किंतु सम्पूर्ण भूमि राजा द्वारा दान नहीं की जा सकती। कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में व्यक्तिगत भूमि-स्वामित्व का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट होता है कि भूमि पर व्यक्ति का अधिकार था।

भूमि पर सामूहिक स्वामित्व:

आर्य जब भारत में आए तक भूमि पर स्वामित्व सामूहिक रूप से स्थापित हुआ था। धीरे-धीरे उनके विस्तार और फैलाव से राज्य का निर्माण हुआ तथा लोग छोटे-छोटे परिवारों में बँटने लग गए। परिवार का स्वरूप विकसित होने पर भूमि स्वामित्व भी संकुचित हुआ। उत्तर वैदिक काल तक आकर व्यक्तिगत सम्पत्ति का सिद्धांत विकसित हुआ, जो कालांतर में चलकर और दृढ़ हो गया। फलस्वरूप सम्मिलित अथवा सामूहिक भूमि स्वामित्व व्यक्तिगत भूमि-स्वामित्व

के रूप में स्थिर होने लगा। परवर्ती काल के हमें कतिपय ऐसे अभिलेखीय प्रमाण मिलते हैं, जिनसे सामूहिक दान के साथ-साथ स्वामित्व पर भी प्रकाश पड़ता है। ग्वालियर अभिलेख से विदित होता है कि सम्पूर्ण ग्वालियर के समस्त लोगों (समस्त स्थान) ने मिलकर एक ग्राम में पड़ा हुआ भूमि खंड और दो भू-क्षेत्र मंदिर को दान में दिये।³ इसी प्रकार का विवरण सियदोनि अभिलेख में भी उल्लिखित है। उसके अनुसार नगर (सकल स्थान) के सभी लोगों ने मिलकर भूमि दान में दी थी।⁴ अतः ये उल्लेख इस बात का प्रमाण हैं कि भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व था, जो सिद्धांत और व्यवहार दोनों में स्वीकृत था तथा कभी-कभी एक से अधिक लोग मिलकर दान भी प्रदान करते थे।

ईस्वी सन् की प्रारंभिक सदियों से लेकर बारहवीं शताब्दी तक भूमि स्वत्व पर प्रकाश डालने वाले धर्मशास्त्रों में जो सामग्री मिलती है, उसमें सामुदायिक अधिकारों का हल्का सा आभास मात्र है। किंतु राजकीय और वैयक्तिक अधिकारों को उसमें उत्तरोत्तर अधिकाधिक समर्थन दिया गया है, यद्यपि ये दोनों प्रकार के अधिकार परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। मध्यकालीन भाष्यकार और आधुनिक इतिहासकार अभी तक इन दो तरह के विरोधी स्वतत्त्वों में संगति नहीं बैठा सके हैं। लेकिन पूर्व मध्य काल में भूमि वितरण की प्रथा पर विचार करने से हम अंतर्विरोध की व्याख्या कर सकते हैं। वैयक्तिक भूस्वामित्व के सिद्धांत के कारण अनुदानभोगी किसानों के हाथ पट्टे पर अपनी जमीन लगा सके, और राजकीय भू-स्वामित्व के सिद्धांत के कारण राजा लोग पुरोहितों और मंदिरों, सामंतों और राज्याधिकारियों को सेवा के बदले अनुदान में भूमि दे सकें। अन्यथा, हम एक ही खेत पर तरह-तरह के लोगों के अधिकार का कारण क्या बतला सकते हैं? अभिलेखों से प्रकट होता है कि भूमि केवल धार्मिक अनुदानों के उद्देश्य से ही बेची जा सकती थी, और मध्यकाल में मुद्रा के अभाव के कारण कम से कम 1000 ईस्वी तक बड़े पैमाने पर जमीन की खरीद-बिक्री नहीं हो सकती थी। फिर भूमि पर राजकीय स्वामित्व के सिद्धांत के कारण मध्यकालीन नरेशों को किसानों पर तरह-तरह के कर लगाने का वैधानिक आधार मिल गया। दोनों सिद्धांतों ने सामुदायिक भू-स्वत्वों को पंगु बना दिया और ऐसी स्थिति पैदा कर दी जिसमें अनुदानभोगी तथा बड़े-बड़े भूपति विस्तृत गोचर भूमि तथा उसी प्रकार की अन्य सामुदायिक भूमि को आसानी से अपनी निजी सम्पत्ति बना सकते थे। फलतः साधारण किसान या तो कृषिदासों की

अवस्था में पहुँच गए या नए भूमिपतियों के असहाय निरूपास आश्रित बनकर रह गए। इस प्रकार ये दोनों सिद्धांत मध्यकाल की सामंती व्यवस्था के लिए विशेष रूप से उपयुक्त थे।

राजा के भू-स्वामित्व का सिद्धांत सामान्य व्यक्ति के भू-स्वामित्व के सिद्धांत से कोई विशेष भिन्न नहीं है। राजा के स्वामित्व का वह रूप नहीं था जो राज्य के स्वामित्व का होता है। मध्यकालीन भारतीय राजा समाज के हित में अपने भू-स्वामित्व का उपयोग बहुत कम करता था। दरअसल, राजा सबसे बड़ा भूमिपति था, और बाकी लोग उसके अधीनस्थ अवर भूमिपति थे। इस व्यवस्था में कई प्रकार के श्रेणीबद्ध भू-स्वत्व मिलते हैं, जिससे राजा, स्वामी और कृषक के अधिकार शामिल हैं। भूमि के संबंध में इन सबके दायित्व किसी-किसी हद तक निर्धारित हैं। हमारा यह निष्कर्ष जे. डी. डरेट के निष्कर्ष से मेल खाता है। डरेट के अनुसार, “भारतीय धर्मशास्त्रकार यह मानकर चले कि स्वामित्व की अलग-अलग अभिव्यक्ति हो सकती है, लेकिन राजा का स्वत्व और बहुत आगे जाकर सोचें तो दखलदार बंधकधारी का भी स्वत्व सब प्रकार के स्वत्वों को प्रकट करने के लिए सम्पत्ति शब्द का ही प्रयोग होता था।”⁵ एक ही खेत में विभिन्न पक्षों के अपने अलग-अलग हल हुआ करते थे, इसका पता अशरफपुर के ताम्रपट अनुदान से चलता है, जो 7वीं से 8वीं शताब्दी के हैं। पूर्वी बंगाल में दिए गए इन अनुदानों से ज्ञात होता है कि एक खेत, जिसका उपभोग शर्वातर करता था और जिसमें शिखर तथा अन्य लोग खेती करते थे, राजा द्वारा संघमित्र नामक एक बौद्ध साधु को दान कर दिया गया।⁶ स्पष्ट है कि बौद्ध साधु को दान करने के पहले तक राजा, शर्वातर तथा शिखर और अन्य किसानों को अर्थात् कम से कम इन तीनों पक्षों को उस खेत पर अलग-अलग अधिकार प्राप्त थे।

भारतीय भू-सम्पत्ति की व्यवस्था मध्यकालीन यूरोप में प्रचलित उस कानून का स्मरण दिलाती है जिसमें भूमि पर आपस में एक-दूसरे से भिन्न और एक के बाद एक ऊपर लादे गए कई तरह के वास्तविक अधिकारों की गुंजाइश थी।⁷ “काश्तकार जो आमतौर पर पुश्त दर पुश्त जमीन जोतता और फसल इक्ठठा करता है, उसका प्रत्यक्ष स्वामी, जिसे वह कर देता है और जो किन्हीं परिस्थितियों में उससे जमीन वापस भी ले सकता है, फिर स्वामी का स्वामी, आदि और अंत में वरिष्ठतम सामंत कितने सारे लोग हैं जो जमीन के एक ही टुकड़े के बारे में कह सकते हैं और सभी समान औचित्य के साथ कह सकते हैं कि ‘यह जमीन मेरी है।’”⁸ पूर्व

मध्यकालीन भारत में जमीन पर अधिकार रखने वाला पक्ष भले ही उतने अधिक न रहे हों जितने कि यूरोप में थे, लेकिन इसमें संदेह नहीं कि भूमि में निहित उनके स्वार्थों को कानूनी मान्यता प्राप्त थी और इस दृष्टि से यहाँ भी स्थिति वैसी ही थी जैसी कि सामंतवादी यूरोप में थी।

मुगल काल की भू-राजस्व पद्धति:

मुगलकालीन भू-राजस्व व्यवस्था के संगठन का श्रेय अकबर को है। इस समस्या की तरफ सर्वप्रथम उसका ध्यान तक आकर्षित हुआ जब अपने शासन के प्रारंभ में उसने कोषाध्यक्ष से 18 रूपयों की मांग की और उसे सूचित किया गया कि कोष में इतना धन भी उपलब्ध नहीं है। भू-राजस्व साम्राज्य की आय का प्रमुख स्रोत था। साम्राज्य की बहुसंख्यक जनता की जीविका का प्रमुख साधन कृषि था। इस तरह साम्राज्य की आर्थिक ढाँचा मूलतः भू-राजस्व पर निर्भर करता था। भूमि व्यवस्था को व्यवस्थित करने का शुभारंभ अकबर ने 1560 में किया किंतु प्रयोग का क्रम 1590 तक चलता रहा। इस तरह भू-राजस्व को संगठित करने में लगभग 30 वर्ष लगे।

किसान का भूमि से क्या संबंध था तथा उसकी दशा कैसी थी, इस पर विद्वानों में मतभेद है। समकालीन यूरोपीय यात्री एक मत से कहते हैं कि सम्राट भूमि का स्वामी था। डॉ. इरफान हबीब का मत है कि भूमि का स्वामी न तो किसान था और न ही सम्राट। कुछ परिस्थितियों में उसका अधिकार मिलकियत का था। पर सामान्य रूप से किसान अपनी भूमि को न तो बेच सकता था और न उससे अलग ही हो सकता था। वह भूमि से संलग्न था, फिर भी उसकी दशा यूरोप के दासों से भिन्न थी। किसान को भूमि संबंधी मौरूसी हक प्राप्त थे। सरकारी आज्ञा थी कि मौरूसी भूमि को पूरी मान्यता दी जाए। किसान यदि अपनी भूमि छोड़कर अन्यत्र चला जाता तो सरकारी कर्मचारियों को आदेश था कि उन्हें समझा-बुझाकर वापस ले आए। फिर भी किसानों का भूमि छोड़कर भाग जाना एक साधारण घटना थी। डॉ. कुरैशी का मत है कि किसान मुगलकाल में खुशहाल थे। इसका कारण सस्ते दामों में आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धि थी। उनका मत है कि किसानों की दरिद्रता का जो चित्र ब्रिटिश काल में दिखाई देता है उसका कारण ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा किसानों का शोषण तथा भारत की लूट थी।

इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मुगलकाल में किसान राजस्व के प्रमुख स्रोत थे। मालगुजारी के अतिरिक्त उन पर तरह-तरह के कर लगाए जाते थे। जब शोषण अधिक

हो जाता तो किसान सब कुछ छोड़कर भाग जाते। बहुत से खालसा भूमि से भागकर जमींदार के क्षेत्र में चले जाते। बर्नियर कहता है कि किसान राजाओं के क्षेत्र में अधिक सुखी थे। आलमगीरनामा के अनुसार जमींदारों द्वारा शाही नियमों के लागू न करने तथा उनके सद्व्यवहार के कारण किसान भाग कर जमींदारी क्षेत्र में चले जाते थे। औरंगजेब के काल में बहुत से किसान तालकोंकण से भागकर जमींदार के पास चले गए उनको जर्बदस्ती वापस लाकर छः सौ गाँवों में बसाया गया किंतु उन्हें पुर्तगाली फुसला कर ले गए। इस घटना से किसानों की स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है।

शोषण के विरुद्ध साधारणतया किसानों के विद्रोह छिटपुट होते और उन्हें सरलता से दबा दिया जाता था। जातीय भावना के परिणामस्वरूप ये विद्रोह कभी व्यापक भी हो जाते थे। इस संदर्भ में औरंगजेब के काल के सतनामियों तथा जाटों का विद्रोह महत्वपूर्ण है। अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि इन विद्रोहों का मूल कारण किसानों का असंतोष था।

सल्तनतकालीन आर्थिक जीवन का मुख्य आधार कृषि थी और राज्य की आमदनी का मुख्य स्रोत भी भू-राजस्व अथवा लगान था। कृषि योग्य भूमि तीन प्रकार की थी। पहला खालसा, यह वह भूमि है जो सल्तनत अथवा केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण में थी। दूसरा, इक्ता यह वह भूमि है जो प्रशासनिक पदाधिकारियों को उनके सेवा के बदले में वेतन के रूप में प्रदान की जाती थी। तीसरा, करमुक्त भूमि— इसमें इनाम, मिल्क या वक्फ जैसी जमीन शामिल थी जिसे राज्य द्वारा पुरस्कार अथवा दान के रूप में प्रदान किया जाता था। भूमिपतियों के भी कई वर्ग थे। इक्तादार भूमिपति की श्रेणी में नहीं आते थे क्योंकि जागीर एवं इक्ता में प्रदत्त भूमि पर इन्हें स्वामित्व प्राप्त नहीं होता था। मध्यस्थ भूमिपति वर्ग में मुकद्दम चौधरी शामिल थे और ये किसान से लगान वसूल कर उसे राजकीय अधिकारियों को पहुँचाते थे और इसके बदले इन्हें कुछ सुविधाएँ एवं विशेषाधिकार प्राप्त थे। सल्तनतकालीन ग्रामीण समाज में यह वर्ग काफी प्रभावशाली था और न केवल अलाउद्दीन खिलजी ही इनका प्रभाव एवं विशेषाधिकार समाप्त करने में सफल रहा। कृषक के स्तर पर दो श्रेणियाँ देखी जा सकती हैं। पहला, भूमिपति कृषक या वो किसान जो अपनी जमीन पर खेती करते थे। दूसरा मजदूर कृषक या वो किसान जो दूसरे की जमीन पर

खेती करके मजदूरी में अनाज पाते थे। कृषकों का भूमि पर स्वामित्व था या नहीं इस संबंध में निश्चित जानकारी प्राप्त नहीं है।

संदर्भ सूची :-

1. गेपाल, एल. ऐस्पेक्ट्स अव हिस्ट्री अव ऐग्रीकल्चर इन एंशियंट इंडिया, पृ. 87, 1980।
2. ऋग्वेद, 1.110.5, 8.91.5।
3. इपि. इ. 1, पृ. 154।
4. वही, पृ. 162।
5. बुलेटिन ऑफ द स्कूल ऑफ ओरिएंटल ऐंड अफ्रिकन स्टडीज, पृ. 489।
6. मेयायर्स ऑफ द एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, नं. 6, पृ. 90, प्लेट 'ए', पंक्तियाँ 8-9।
7. मार्क ब्लॉक, फ्यूडल सोसायटी, पृ. 116।
8. वही, पृ. 116।

